यहाँ कमलनी खिलती है

हिन्दी ADDA

मृदुला गर्ग

यहाँ कमलनी खिलती है

वीराने में दो औरतें मौन बैठी थीं। पास-पास नहीं, दूर; अलग, दो छोरों पर असंपृक्त। एक नजर देख कर ही पता चल जाता था कि उनका आपस में कोई संबंध न था; वे देश के दो ध्रुवों पर वास करने वाली औरतें थीं।

एक औरत सूती सफेद साड़ी में लिपटी थी। पूरी की पूरी सफेद; रंग के नाम पर न छापा, न किनारा, न पल्लू। साड़ी थी एकदम कोरी धवल पर अहसास, उजाले का नहीं, बेरंग होने का जगाती थी। मैली-कुचैली या फिड्डी-धूसर नहीं थी। मोटी-झोटी भी नहीं, महीन बेहतरीन बुनी-कती थी जैसी मध्यवर्ग की उम्रदराज शहरी औरतें

आमतौर पर पहनती हैं। हाँ, थी मुसी-तुसी। जैसे पहनी नहीं बदन पर लपेटी भर हो। बेखयाली में आदतन खुँसी पटलियाँ, कंधे पर फिंका पल्लू और साड़ी के साथ खुद को भूल चुकी औरत। बदन पर कोई जेवर न था, न चेहरे पर तनिक-सा प्रसाधन, माथे पर बिंदी तक नहीं। वीराने में बने एक मझोले अहाते के भीतर बैठी थी वह। चारों तरफ से खुला, बिला दरोदीवार, गाँव के चौपाल जैसा, खपरैल से ढका गोल अहाता।

दरअसल, वीराना वीरान था भी और नहीं भी। दो बीघा जमीन का टुकड़ा, दो फुट ऊँची चाहरदीवारी से घिरा था। दीवार इनसान की बनाई हुई थी, इसलिए उसे वीराने का हिस्सा नहीं माना जा सकता था। पर उसकी गढ़न स्त्री की साड़ी जैसी बेरंग-बेतरतीब थी; यूँ कि उसका होना-न होना बेमानी था। वह बस थी; पेड़-पत्तों से महरूम, उस खारी धरती की निर्जन सारहीनता को बाँध, कम करने के बजाय बढ़ा रही थी। उस जमीन को घेरते वक्त, घेरने वाले का इरादा, उसे आबाद करने का नहीं था। दिल की वीरानी को हरदम रौंदते यादों के काफिले को जीते-जीते, बाकी की जिंदगी जीने की कूवत पैदा करने के लिए, जिस एकांत की जरूरत होती है, उसी को निजी बनाने की कोशिश थी। कभी कभी सुकून पाने को वीराने में ही ठौर बनाना पड़ता है; वैसा ही ठौर था वह मँझोला छाजन।

पर अचरज, इनसानों को बसाने का जज्बा भले न रहा हो, फूलते-फलते पेड़ लगाने का इरादा जरूर था। इरादा कि उम्मीद! जिद या दीवानगी! जो था, कारगर न हुआ। धरती में खार की पहुँच इतनी गहरी थी और निकास के अभाव में, बरसात के ठहरे पानी की मियाद इतनी लंबी कि पेड़ों का उगना, मुश्किल ही नहीं, करीब-करीब नामुमकिन था। कुछ झाऊँ और कीकर जरूर उग आते थे जब-तब। पर जब और तब के बीच का फासला इतना कम होता कि पता न चलता, कब थे कब नहीं। उगते, हरसाते, ललचाते और मुक्ति पा जाते। जब पहले-पहल, पहला झाऊँ उगा तो बड़ी पुख्तगी के साथ इरादा, उम्मीद बना कि बस अब वह भरे भले नहीं पर जंगली पेड़ वहाँ हरे जरूर होंगे। और उसके एकाध साल बाद, जमीन ममतामयी हुई तो फलदार पेड़ भी उग सकेंगे। झाऊँ के बाद कीकर उगे तो उम्मीद भी उमगती चली गई, अंकुर से पौध बनती। सरदी पड़ने पर कीकर पीले पड़ कर सूख गए; झाऊँ भी गिनती के दस-बीस बचे। तब भी उम्मीद ने दम न तोड़ा। लगा इस बरस पाला ज्यादा पड़ गया, अगली बार सब ठीक हो जाएगा। जब अगले बरस भी सिलसिला वही रहा तो धीरे-धीरे, जंगली पौधों के पेड़ बनने से पहले गलने-सूखने के साथ, उम्मीद क्या, जिद तक दम तोड़ गई।

दूसरी औरत छाजन के बाहर, चहारदीवारी के भीतर बैठी थी, हैंड पंप के पास। फिड्डी, पेबंद लगी कुर्ती और ढीली सलवार पहने थी। अर्सा पहले जब नया जोड़ा बना था तो

रंग ठीक क्या रहा होगा, कहा नहीं जा सकता था। और जो हो, सफेद वह कभी नहीं था। मैला कुचैला या बेतरतीब फिंका हुआ अब भी नहीं। दुरुस्त न सही चुस्त जरूर था, देह पर सुशोभित। सीधी तनी थी उसकी मेहनतकश देह, उतनी ही जितनी पहली की दुखी-झुकी-लुकी। जाहिर था वह निम्न से निम्नतर वर्ग की औरत थी। गाँव की वह औरत, जो दूसरों के खेतों पर फी रोज मजदूरी करके एक दिन की रोजी-रोटी का जुगाड़ करती है पर खुदकाश्त जमीन न होने पर भी रहती किसान है। जमीन से जुड़ाव में; अपनी भाव-भंगिमा में। वह इस ऊसर धरती के साथ पली-बढ़ी थी। उसे उपजाऊ से खार होते देखा था। कोई नहर बनाई थी सरकार ने। पर पानी के निकास का सही बंदोबस्त न होने पर खार इधर के खेतों की तरफ दौड़ा था और हरियल धरती को कल्लर बना कर छोड़ा था। आदमकद पेड़ उगाने की न उसने कभी उम्मीद की, न किसी और ने जिद। उसने आस लगाई तो बस कमतर श्रेणी का धान उगाने वाले खेतिहरों की फसल की बुवाई-कटाई की, जो कमोबेश पूरी होती रही, दो-एक सालों के फासले पर। जब सूखा पड़ता और फसल सिरे से गायब हो जाती तो सरकार राहत के लिए जहाँ सड़क-पुल बनाती, वहीं मजूरी करने चली जाती। जिस दिन मजूरी नहीं, उस दिन कमाई नहीं; रोटी नहीं। बिला काम-धाम, आराम से बैठने की उसे आदत न थी। सोने और जागने के बीच सिर्फ काम का फासला जानती थी, इसलिए चंद मिनट बेकार क्या बैठी, आप से आप आँखें मुँद गईं। इतनी गहरी सोई कि ओढ़नी बदन से हट, सिर पर टिकी रह गई। निस्पंद बैठे हुए भी उसकी देह जिंदगी की थिरकन का भास देती रही। साँस का आना-जाना, छाती का उठना-गिरना,मानों उसकी रूहानियत के परचम हों।

कल उसने दूनी मजदूरी करके, घरवाले और बच्चे के लिए कुछ रोटी-प्याज बचा रखा था कि आज काम पर न जा, यहाँ बैठ पाए। ऐसा भाग कम होता था कि एक दिन में दो दिनों के गुजारे लायक अन्न जुट जाए। सबकुछ बरखा भरोसे जो था। सचमुच पिछले दो बरस बड़भागी बीते थे। पिछले बरस भी बरखा इतनी हो गई थी कि धान की फसल ठीक-ठाक हो और उसे कटाई का काम मिलता रहे। और इस बरस... इस बरस तो यूँ टूट कर बरसा था सावन कि बिला खेत-जमीन, हरिया लिया था जिया। तभी न कल दूनी मजदूरी का जुगाड़ हुआ और आज यहाँ बैठने आ पाई। जानती थी पहली औरत आज आएगी; पिछले दो बरसों से आ रही थी।

मुँदने से पहले उसकी आँखें दीवार के परली तरफ टिकी थीं। दीवार की बाँध में बँध कर, उधर की निचली जमीन के गड्डों-खड्डों पर, उमग-घुमग कर बरसा पानी जो ठहरा, तो भरा-पूरा पोखर बन लिया। और उसमें खिल आए कमलनी के अनगिन

फूल। जहाँ तक वह जानती थी; और इस इलाके के बारे में शायद ही कुछ था जो वह नहीं जानती थी; तो इस बरस से पहले, किसी बरस यहाँ कमलनी नहीं खिली थी।

हे मैया अजब माया है थारी! इस बरस कमलनी भी यों खिली ज्यों बरसा पानी; अटाटूट। देवी पारवती का चमत्कार नहीं तो क्या कहे इसे? वह जाने थी भली भाँत, पारवती के कहे पर ही खिली थी कमलनी यूँ घटाटोप। कहा होगा शिवजी से कि प्राणप्यारे खिला दो, छोरी खातिर उसकी नाईं कमलनी। बाबा शंकर मना करते तो कैसे; सूरत छोरी की ज्यों पारवती की परछाई। दिप-दिप मुख पर देवी जोगी मुस्कान लिए खत्म हुई थी; पल भर को जो छोरे का हाथ अपने हाथ से छूटने दिया हो। जैसे ही गाड़ी ट्रेक्टर से टकराई, सोने से छोरा-छोरी मिट्टी हो गए। यह औरत, जो दो बरस से यहाँ आया करे है; जने क्या सोच बंजर को आड़ दे, बीज छींटा करे है, छोरे की माँ है।

सफेद झुकी औरत की आँखें उसकी देह की तरह बेजान नहीं थीं। जब-तब उनमें यादों का बरसाती अंधड़ सरगोशियाँ कर उठता। कभी काली आँधी की किरकिर धूल तो कभी साँवले मेह की झिलमिल टपकन। प्यार से पगे पल की याद कुलाँच भरती कि विरह से सना उपरांत लपक कर उसे दबोच लेता।

वह उन्हें पूरा नहीं खोलती थी, न इधर-उधर ताकने की इजाजत देती थी। निगाहें यूँ नीचे झुकी रहतीं जैसे अपने दुख पर शर्मिंदा हों। पर इधर-उधर न देखने की कोशिश जितनी करे, प्रकृति को पूरी तरह पछाड़ कहाँ पाती थी? गाहे बगाहे नजर फिसल ही जाती, यहाँ-वहाँ। उसकी दूसरी कोशिश भी नाकाम रहती। बोझिल अधखुली आँखों को पूरी तरह मूँद, यह उम्मीद करने की, कि इस वीराने में यादों के भँवर में डूब, नींद आ जाएगी। एकाध दफा यह तो हुआ कि भँवर से दो-एक खुशनुमा लम्हे जेहन में उभरे और बरबस ओठों पर हल्की मुस्कराहट तिर गई। पर ज्यादा देर टिकी नहीं ...अनचाहे-मनचाहे उगे झाऊँ-कीकर की तरह समाधिस्थ हो गई। बची रही चीखती-चीरती एक आवृत्ति... पहले गुजरी इस तिथि की...

कभी ऐसा भी हुआ कि अधखुली आँखों से उसने उम्मीद के इस वीराने को फल-फूल से लदा देख लिया। बेर, कैर, करौंदों से ही नहीं, जामुन और आम के झुरमुट से हरियाया। पर भ्रम रहा भ्रम ही; दीवानगी में भी वह जाने रही कि वह दीवानगी थी, असलियत या सच्चाई नहीं। उन जबरन मुँदी, अधमुँदी आँखों में जब नींद कभी न आई तो सपने कैसे आते? नहीं आए इसी से दीवानगी को दीवानगी जाने रही और वीराने को वीराना।

अब भी, हमेशा की तरह, उसने जबरन आँखें मूँदी तो छलावे-सी मायावी, नामालूम-सी खुशबू ने पलकों पर दस्तक दी। कहाँ से आई खुशबू? क्या आँख लग

गई, सपना आ बैठा उसके रूमाल का रूप ले, भीगी पलकों पर? आँखें औचक खुलीं तो इधर-उधर भटक भी लीं।

उसने देखा... जमीन को घेरे जो दो फुटी दीवार खड़ी थी, उसके दूसरी तरफ बाहर पानी ही पानी था। इतना पानी! हाँ होता है, देख चुकी है न दो बार। बरसात होने पर, उम्मीद का यह वीरान बगीचा, पानी से भरा उथला नाला बन, खुद अपने पेड़ पौधों को निगल जाता है। पर यह मौत का साया फेंकता पानी नहीं, कुछ और है। इसमें तो बेशुमार कमलनी खिली हैं! दर्जनों, बीसियों, सैंकड़ों की तादाद में। वह चौंक कर खड़ी हो गई। कमलनी! यहाँ, जहाँ कभी कुछ खिलता नहीं। समझी! आखिरकार उसे नींद आ ही गई और यह सलोना सपना दिखला गई।

मंत्र मुग्ध वह उठी और यंत्र-बिद्ध कदमों से दीवार के पास पहुँच गई। कमलनी बदस्तूर खिली रही; मन के तिलिस्मी पेड़ों की तरह बिलाई नहीं। उस पार जाने के लिए वह दीवार में, हैंड पंप के पास बनी, फाँक की तरफ बढ़ी तो वहाँ एक स्त्री मूर्ति देख, स्तब्ध-अवसन्न रह गई। कहाँ से आई यह प्रतिमा, उसने तो लगवाई नहीं, करुणा से ओतप्रोत देव-मूर्ति... तब... कौन लगा गया... किसने तराशी ऐसी दिलकश... उसकी साँस रुक गई... मूर्ति की छाती उठती-गिरती साँस से हिल रही थी। यह तो... जिंदगी की हलचल से लबालब, बादामी आँखें पूरी खोल सपनों में खोई... उसकी बहू थी? जिंदा?

पर उसे तो उसने खुद अपने हाथों...

सिर में घुमेर उठी और वह चक्कर खा वहीं उसके बराबर में ढह गई। पसीने से तरबतर बदन से चिपकी साड़ी का पल्लू कंधों से लरज, दूसरी औरत की ओढ़नी की तरह जमीन पर बिछ गया। वह बेखबर उठंगी पड़ी रही। उस औरत ने करुण वात्सल्य से भीगी दृष्टि उस पर डाली पर अपनी जगह से हिली नहीं; सहारा दे उसे उठाया नहीं।

सिर हाथों में थाम, उसने खुद को सँभाला और अपनी उसी झुकी, दुखी, जीवन से हताश, मुक्ति की तलाश में दिग्भ्रमित मुद्रा में बैठ गई। निगाह बरबस ऊपर उठी तो दूसरी औरत की स्निग्ध नजर से जा टकराई।

नजर के साथ चेहरा आँखों की राह जेहन में पहुँचा तो हाहाकार करते दिल ने समझा, वह नितांत अजनबी औरत थी। निश्चल रह कर भी, अपनी साँसों के स्पंदन से उस निष्कंप सन्नाटे को आबाद कर रही थी। खुली बादामी आँखों, उसी मंजर को ताक रही

थी, जिसे सपना जान, मोहपाश में बँधी, वह फिर-फिर देखने की पगलाई ख्वाहिश लिए, चली आई थी। उनकी साझा नजरों के सामने हर तरफ कमलनीं ही कमलनीं थीं।

दोनों पास-पास मौन बैठी, एक दिशा में ताक रही थीं। पहली औरत अपने से बेखबर थी और दूसरी से भी; पर दूसरी, पहली से पूरी तरह खबरदार थी। स्नेहिल, ममता में रची-पगी दृष्टि, जब-तब उस पर डाल, वापस कमलनी के घटाटोप की तरफ मोड़ लेती।

कितना वक्त गुजरा : कुछ पल, चंद लम्हे, एक घंटा, एक पहर; कौन हिसाब रखता। बेखयाली में गुम पहली औरत भला क्या कयास लगाती, कितने बरस बीते वहाँ? लगा, रेत की मानिंद हाथों से फिसली पूरी जिंदगी बीत ली। याद आया, यहाँ साँप के एक जोड़े ने बसेरा किया था। केंचुल छोड़ एक दिन सरक लिए। फिर नहीं लौटे। मोर-मोरनी भी भटक आए थे एक बार, जब बरसात से पहले, कुछ पेड़ उम्मीद बन उगे थे। वे भी चले गए न लौटने के लिए। वही बार-बार लौट आती है यहाँ। कब हुआ था वह सब? क्या पिछले साल ही? अब कहाँ थे वे? यहीं कहीं थे आस पास या गए? सब गए; सब के सब?

दूसरी बेखबर नहीं थी। आश्वस्त थी कि दिन ढलने में अभी वक्त था। साँझ उतरने पर, जब कमलनी पँखुड़ियाँ समेटना शुरू करेगी, तभी घर पलट पाएगी, सोच कर ही वीराने में पाँव रखा था। उसे पता था, छोरे की माँ छोरे की पुन्न तिथि पर साँझ घिरने पर ही वहाँ से पलटती थी। कमलनी कल फिर खिलेगी; सूरज उगने के साथ। पर पारवती अपने शिव को साथ ले जो गई सो गई। दो बरस बाद ये सौगात भेजी माँ के लिए; ढेरोढेर कमलनी के फूल। यहीं से पानी ले जाती थीं गाँव भर की औरतें। इस बरस हर जबान पर यही नाम था; जहाँ कमलनी खिलती है।

बरसात बाद के अगहन महीने की दुपहरी का तेज ताप, जिसमें हरिण भी काले पड़ जाते हैं, मद्धिम पड़ना शुरू हुआ तो दमकती-चमकती कमलनीं, स्त्री की आर्द्र दृष्टि की तरह सौम्य दीखने लगीं। उसने अचकचा कर ऊपर आसमान की तरफ देखा; हाँ, सूरज चलाचली की ओर बढ़ रहा था। उसने ओढ़नी सिर से खींच, पूरा बदन ढका और असमंजस भरी निगाह से पास बैठी औरत को निहारा। निहोरा अब भी था उसमें पर हल्की दुविधा का भास लिए।

थिर मूरत में हरकत हुई तो पहली औरत मायाजाल से निकल ठोस जमीन पर आ गिरी। पर कमलनीं... वे तो अब भी खिली थीं। कुछ सिमटी-सकुचाई जरूर थीं, नई दुल्हन की तरह। पर थीं सब की सब वहीं; मगन मन पानी के ऊपर तैरतीं। नहीं,

मायावी नहीं था वह लोक जिसमें विचर, वह अभी-अभी लौटी थी। कमलनी थीं, वाकई थीं।

बेध्यानी टूटी तो जो पहले नहीं सूझा था, अब सोच बैठी। कौन थी वह औरत; यहाँ क्यों बैठी थी? हैंड पंप से पानी लेने आई होगी। इस खारे इलाके का पानी भी खारा था; कुओं का ही नहीं, गहरे खुदे नल कूप का भी। वह खुदवा कर देख चुकी थी। मीठा पानी सिर्फ सरकार की कृपा से मिलता था। उसकी जमीन पर था मीठे पानी का एक हैंड पंप। उसी ने कह-सुन कर लगवाया था। सुबह सकारे गाँव की औरतें उससे पानी भरने आती थीं। पर इतनी देर रुक-ठहर कोई बैठती न थी। भागती-दौड़ती आईं, पानी भरते-भरते आपस में दो बोल बोले और चल दीं। कभी वह नजर आ गई तो शर्मीली-सी दुआ सलाम उससे भी कर ली, बस।

उठने-उठने को होती दूसरी औरत बैठी थी अब तक। पर उसके बदन की कसमसाहट पहली को उठने पर आमादा कर रही थी। क्या वे किसी काम के सिलसिले में आपस में टकराई थीं? याद आया, एक बार, एक स्वयंसेवी संस्था से दो औरतें यहाँ आई थीं; गाँव की औरतों को क्या-कुछ बतलाने। बड़ी मुश्किल से औरतों को इकट्ठा किया था पर बात आगे बढ़ी न थी। कैसे बढ़ती? औरतें चाहती थीं रोजगार और वे देती थीं, मात्र सलाह। तो... उसने क्या किया? कुछ नहीं। सोचा भी नहीं कि कुछ कर सकती थी।

फिर एक बार... अरे पिछले बरस ही तो, धान की थोड़ी-सी फसल भी हुई थी इस जमीन पर; कुछ औरतें काट ले गई थीं। उनमें रही होगी यह भी। पर... आज... एक बरस बाद... इतनी देर से यहाँ क्यों बैठी है? कौन है यह, क्यों है?

कौन हो सकती है? गरीब घर की किसान औरत, और क्या। पर... आँखों से झरती कण-कण अनुकंपा; सीधी-तनी-कृश देह से तरंगित वत्सल राग? पेबंद लगी फिड्डी पोशाक में दिपदिप करती देवी-सी आकृति... उसकी बहू... नहीं पार्वती है यह साक्षात! वही... वही... और कोई नहीं...

कुछ पल गुजरे... एक पहर और बीता...

सूरज अवसान की तरफ बढ़ा, कमलनीं सकुचाईं, मायाजाल तिड़कता चला गया। इतना कि तमाम संकोच-झिझक के बावजूद, सपनलोक से बेवफाई कर, वह जमीनी सवाल कर बैठी।

"कुछ चाहिए?"

"ना, "उसने कहा, "सोचा, इकली कैसे बैठोगी।"